पुस्तक अंश

स्टीफन ज़्वाइग

स्कूल के दिन

यह आलेख ऑस्ट्रिया के प्रसिद्ध लेखक स्टीफन ज़्वाइग (1881-1942) की आत्मकथा 'वो गुज़रा ज़माना' से लिया गया है। आलेख में ज़्वाइग बोरियत से भरे अपने स्कूली दिनों का बेबाक वर्णन करते हैं तथा स्कूल के माहौल की तुलना स्कूल के बाहर शहर से करते हैं जहाँ थिएटर, म्यूज़ियम, पुस्तकालय और संगीत आदि के माध्यम से जानने-सीखने के हज़ारों अवसर उपलब्ध थे। इसीलिए ज़्वाइग तथा अन्य बच्चे स्कूल से बाहर निकलने को लालायित रहते थे।

जब मेरी प्राथमिक शिक्षा पूरी हो गई तो मुझे जिस स्कूल (जिमनेज़ियम) में दाखिल होना था, कर दिया गया। हर खाता-पीता परिवार अपने बेटों को, चाहे सामाजिक कारणों की बदौलत ही सही, 'शिक्षित' कराने में कोई कसर नहीं छोड़ता था। बच्चों को अँग्रेज़ी और फ्रांसीसी भाषाएँ पढ़ाई जातीं, संगीत से वाकिफ कराया जाता, अच्छे तौर-तरीके सिखाने के लिए घर पर ही पहले गवर्नेस, और थोड़ा बड़ा होने पर, मास्टर जी आते। परन्तु प्रबुद्ध उदारवाद के उस दौर में सबसे ज़्यादा अहमियत उसी तथाकथित अकादमिक शिक्षा की थी जिसकी चौखट विश्वविद्यालय में जाकर खुलती थी। इसलिए हर अच्छे परिवार की यह दिली इच्छा रहती थी कि उसका कम-से-कम एक बेटा तो अपने नाम के आगे 'डॉक्टर' का खिताब लगाने लायक निकले। लेकिन विश्वविद्यालय की शिक्षा का रास्ता लम्बा था। आसान तो एकदम नहीं था।

* * *

प्राथमिक शिक्षा के पाँच साल और जिमनेज़ियम की पढ़ाई के और आठ साल लकड़ी की बेंचों पर कटते थे। पाँच-छह घण्टे तो पढ़ाई होती थी और बाकी बचे समय में होमवर्क पर निपुणता अर्जित करनी होती थी। 'सामान्य शिक्षा' के लिए 'धड़कती' भाषाएँ यानी फ्रांसीसी, अँग्रेज़ी और इतालवी पढ़नी ज़रूरी थीं। स्कूल की पढ़ाई के साथ-साथ यूनानी और लैटिन भाषाओं का क्लासिकी साहित्य भी पढ़ना होता था। यानी पाँच तो भाषाएँ तथा ज्यामिती, भौतिकशास्त्र के साथ दूसरे विषय रहे, सो अलग। इस सब में ही इतने खप जाते थे कि मनोरंजन-मस्ती की कौन कहे, खेलकूद और कसरत के लिए भी समय नहीं बचता था। मुझे मलिन-सी याद 'मस्त और आनन्दमय बचपन' वाले उस गीत की है जो सात साल की उम्र में हमें समूह गान के लिए कण्ठस्थ करना पड़ता था। उस छोटे-से, सीधे-सपाट गीत की धुन आज भी मेरे कानों में बसी है। लेकिन उसे गाने में मेरे होंठ बमुश्किल ही चलते थे। मन तो खैर उसमें था ही नहीं। मेरा पूरा स्कूली दौर, कसम से, बोरियत की ऐसी गठरी था जिसे उठाने से बचने के लिए मैं साल-दर-साल पिसता रहा। मेरा तो एक भी दिन वहाँ 'मस्त' या 'आनन्दमय' नहीं गुज़रा। जीवन के सर्वोत्तम काल का उन बेदिल, बेजान और

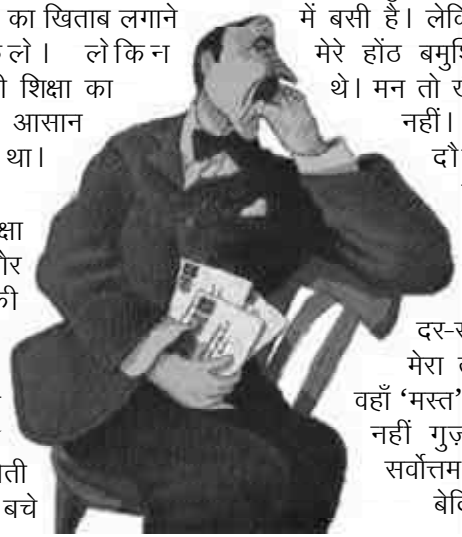

मनहूसियत भरे दिनों ने सत्यानाश कर दिया। आज के बच्चों को देखता हूँ... कि उन्हें कितनी ज़्यादा छूट, ज़्यादा खुशी और ज़्यादा आज़ादी मिली हुई है... तो सचमुच मन ही मन मैं ईर्ष्या से भर उठता हूँ। आज के छात्र जिस बराबरी से अध्यापकों से घुल-मिलकर बात कर लेते हैं वह मुझे बड़ा अखरता है। ये बच्चे कैसी बेफिक्री से स्कूल जाते हैं जबकि हमें बात-बेबात टोका जाता था। घर और स्कूल, दोनों जगह ये अपने दिल की बात कितने निर्भय, सहज और स्वतंत्र होकर कर लेते हैं, जबकि उस मनहूस इमारत में हम लोगों की तो घुसते ही घिग्घी बँध जाती थी। हमारे लिए स्कूल बड़ी ज़बरदस्ती का सौदा था... बोरियत का ऐसा ठिकाना जहाँ हमारी रुचियों या ज़िन्दगी के यथार्थ को दरकिनार करके, 'न जानने लायक विज्ञान' के पण्डिताऊ ज़खीरे को नाप-तौल कर गटकना पड़ता था... सीखने-सिखाने की ऐसी रवायत जिसका ज़िन्दगी से कोई ताल्लुक नहीं था... महज़ सीखने के लिए सीखना। स्कूली दिनों में जिस इकलौते मस्ती भरे दिन का मैं शुक्रगुज़ार हूँ वह था पढ़ाई पूरी होने के बाद स्कूल से हमेशा के लिए हुए छुटकारे का दिन।

ऐसा नहीं कि ऑस्ट्रिया में हमारे स्कूल खराब थे। उलटे, वहाँ के पाठ्यक्रम निर्धारण के पीछे कोई सौ वर्षों का अनुभव था। उसके पीछे कोई दृष्टि या प्रेरणा भी जुड़ी रही होती तो वह अर्थपूर्ण शिक्षा का बड़ा सार्वभौमिक आधार भी बन सकता था। लेकिन तामझाम को ही मकसद मानने के कारण हमारी पढ़ाई नीरस हो गई। शैक्षिक व्यवस्था हमारी निजता का ध्यान रखने की बजाय हमें उसके द्वारा बनाए गए सींखचों – 'अच्छा', 'पर्याप्त' या 'अपर्याप्त' – में फिट बैठाना चाहती थी। मानवीय स्पर्श और व्यक्तिगत लगाव के मुकम्मल अभाव और कैदियों के लिए बनाई गई बैरक जैसे माहौल का नतीजा यह था कि उसने जाने-अनजाने हमारे भीतर कड़वाहट भर दी। जो हमें सिखाया जाता था वह हम सीखते थे और इम्तिहान दे देते थे। इन आठ बरसों में किसी भी अध्यापक ने हमसे एक मर्तबा भी नहीं पूछा कि निजी तौर पर हम क्या सीखना चाहते हैं। उम्र के उस मोड़ पर हर युवक उत्साहवर्धन के लिए मचलता है। वही सब वहाँ नदारद था।

* * *

हमारे स्कूल की इमारत कोई पचास वर्ष पुरानी थी। इमारत क्या, बड़ी जल्दबाज़ी में बिना सोचे-समझे, एक काम चलाऊ ढाँचे को स्कूल में तब्दील कर दिया गया था। उसे ही शालीन ढंग से उपयोग में लाने की कोशिश हो रही थी। इसकी दीवारें बड़ी नीची थीं जिससे उन पर नज़रों को सुकून देती कोई पेंटिंग या सौन्दर्याकृति नहीं लगाई जा सकती थी। वे बड़े ऊबड़-खाबड़ ढंग से पुती हुई थीं। शौचालय

की गन्ध पूरे स्कूल को गन्धाती थी। ज्ञान का वह कारखाना पुराने होटल जैसा ज़्यादा लगता था जिसमें हमसे पहले न जाने कितने आकर चले गए और हमारे बाद, हमारे जैसे न जाने कितनों का जबरन आना बाकी था। बिल्डिंग की फफूँदभरी गन्ध को मैं आज तक नहीं भुला पाया हूँ। ऑस्ट्रिया की ज़्यादातर सरकारी इमारतों का यही हाल था। हम लोग इसे 'सरकारी गन्ध' कहा करते थे। भीड़ भरे कमरे में ज़्यादा उमस से जो गन्ध निकलती है, यह वैसी ही थी। पहले तो यह गन्ध हमारे कपड़ों से चिपकी और बाद में हमारी रूह से। लकड़ी की जिन बेंचों पर हम बैठते थे वे बड़ी नीची थीं। एक बेंच पर हम दो छात्र बैठते... लगता दो गुलाम बैठे हों। बेंच नीची होने से हमारी रीढ़ अकड़ जाती और हड्डियाँ कसकने लगतीं। सर्दियों में गैस की लालटेन की नीली रोशनी हमारी किताबों पर मण्डराती, तो गर्मियों में कमरों की खिड़कियों को बड़े ध्यान से ऐसे ढाँप दिया जाता मानो आसमान की नीलिमा नज़र आते ही हम स्वप्नलोक की सैर पर निकल भागेंगे। उस सदी को यह खबर नहीं थी कि नन्हें बढ़ते बच्चों को खुली हवा और व्यायाम की ज़रूरत होती है। चार-पाँच घण्टे बैठे रहने के समय में बस दस मिनट का विराम था जिसके लिए एक तंग, घिचपिच-सा हॉल मुकर्रर था। सप्ताह में दो दिन हमें व्यायाम शाला ले जाया जाता जिसकी खिड़कियाँ कसी रहती थीं। हम बेवकूफों की तरह लकड़ी के फर्श पर कदमताल करते तो उसकी धूल ऊपर छिटकने लगती। इसी से स्वास्थ्य की हमारी ज़रूरतें पूरी हुई मान ली जातीं और राज्य ने हमारे प्रति 'अच्छा स्वास्थ्य, अच्छी शिक्षा' के अपने कर्तव्य का पालन कर लिया होता। बरसों बाद भी जब मैं इस ठण्डी, निथरी इमारत के पास से गुज़रता तो मुझे यह सोचकर बड़ी राहत मिलती कि अपने युवाकाल की इस कैद में मुझे अब नहीं घुसना पड़ेगा।

* * *

इस प्रतिष्ठित संस्था की पचासवीं जयन्ती पर, एक नामचीन पूर्व विद्यार्थी होने के कारण किसी मंत्री और मेयर की मौजूदगी में जब मुझे मुख्य वक्तव्य देने का न्यौता मिला तो मैंने उसे विनम्रतापूर्वक ठुकरा दिया। स्कूल का शुक्रगुज़ार होने की मेरे पास कोई वजह ही नहीं थी। मैं ऐसा-वैसा एक शब्द

भी कहता तो सरासर झूठ होता।

यूँ संस्था की नीरसता के लिए अध्यापक भी दोषी नहीं थे। वे अच्छे थे न बुरे, क्रूर थे न मददगार। वे बेचारे तो अपनी नौकरी के गुलाम थे। जो भी पाठ्यक्रम था, उन्हें समयानुसार पूरा करना होता था। हम बखूबी जानते थे कि उन्हें अपना काम पूरा करना था और हमें अपना। दोपहर को स्कूल खत्म होने की घण्टी बजने पर हमारी तरह वे भी मुक्ति की साँस लेकर खुश होते। वे न तो हमें प्यार करते थे और न ही नफरत। और भला करते भी कैसे, जब वे हमें जानते ही नहीं थे? साल-दो-साल बाद भी उन्हें हममें से एकाध के ही नाम पता थे। उन दिनों की शिक्षा पद्धति के अनुसार उनका महज़ एक ही काम था कि पिछले पाठ में हमने जो गलतियाँ की हैं उन्हें रेखांकित कर दें। वे अपनी डेस्क पर बैठते और हम उनके नीचे। वे सवाल करते, हम जवाब देते। हमारे दरम्यान कोई और रिश्ता ही नहीं था।

अध्यापकों और छात्रों के बीच, अध्यापक की डेस्क और हमारी बेंच के बीच – अध्यापक जो ऊपर था और नीचे से दिखता था – इस सबके बीच तंत्र का अदृश्य नाका पसरा हुआ था जिसने सारे सम्पर्क तोड़ रखे थे। कोई अध्यापक अपने विद्यार्थी को एक अलग व्यक्ति मानकर पढ़ाने लग जाता (जिसका मतलब होता विद्यार्थी की खूबियों के मद्देनज़र पढ़ाना, उसके बारे में, जैसा आजकल होता है, लिखित निरीक्षण दर्ज़ करना अथवा रिपोर्ट बनाना) तो यह न सिर्फ उसके अध्यापकीय क्षेत्र बल्कि उसकी काबिलीयत के बाहर की बात होती। पाठ्यक्रम के अलावा वे यदि कुछ और बात करते तो इससे उनकी सत्ता कमज़ोर पड़ती क्योंकि इस तरह की बातें तो सिर्फ विद्यार्थी ही करते हैं। अध्यापक का दर्जा तो विद्यार्थियों से ऊपर रहा! हम और हमारे अध्यापकों के दरम्यान किसी भी तरह के ज़ेहनी या रूहानी ताल्लुकात की सरासर गैर-मौजूदगी का इससे बड़ा सबूत और क्या होगा कि मुझे किसी भी अध्यापक का नाम या चेहरा याद नहीं है। हाँ, अध्यापक की डेस्क और अपनी अभ्यास-पुस्तिका की तस्वीर मेरे ज़ेहन में किसी फोटोग्राफ की तरह हूबहू चस्पाँ है क्योंकि इसी में लिखे नम्बरों को देखने के लिए हम झुके पड़े रहते थे। मैं लाल रंग की वह नोटबुक भी बखूबी देख पा रहा हूँ जिसमें एक छोटी, काली पेंसिल से हमारे ग्रेड दर्ज किए जाते थे। अपनी कॉपी पर मुझे अध्यापक द्वारा लाल स्याही से जगह-जगह किए गए सुधारों की छितराहट याद है, मगर एक भी अध्यापक का चेहरा याद नहीं आ रहा – शायद इसलिए कि हम हमेशा बेमने-से, नज़रें झुकाए ही उनसे पेश आते थे।

* * *

स्कूल के प्रति मेरी नाराज़गी जाती नहीं है। मुझे नहीं याद मेरे तमाम संगी-साथियों में से किसी ने भी यह

मानने से गुरेज़ किया हो कि इस पनचक्की में हमारी रुचियाँ और सद्इच्छाएँ किस तरह दब-घुटकर रह गईं। वह तो मुझे काफी बाद में पता चला कि वह बेरहम, बेजान तालीम तंत्र के बेफिक्र रवैए का नतीजा नहीं थी बल्कि उसके पीछे एक निश्चित और सोची-समझी नीयत पोशीदा थी। हमारे आस-पास की दुनिया की समूची सोच महज़ सुरक्षा पर केन्द्रित थी। ज़ाहिर है, इस समाज को बेफिक्र नौजवान पसन्द नहीं थे। सच तो यह है कि यह समाज नौजवानों को हरदम शक की निगाह से देखता था। तरक्की और सुव्यवस्था के नशे में इतराते बुर्जुआ समाज को जीवन के हर क्षेत्र में मिताचार और आराम ही आदमी के सबसे ज़रूरी गुण लगते थे। जल्द आगे बढ़ने के किसी भी कदम से तौबा थी।

ऑस्ट्रिया एक पुराना राज्य था, जिस पर एक बुढ़ऊ बादशाह काबिज़ था। कार्यकारी मंत्री बूढ़े थे। राज्य की कोई ख्वाहिश नहीं थी। यूरोप के दंगल में अपने को बचाने के लिए इसके पास एक ही छड़ थी... हर तरह के बदलाव का विरोध। तीव्र और आमूल परिवर्तन चूँकि युवा लोगों की फितरत होती है, इसलिए उन्हें हरदम शक के घेरे में रखा जाता और कोशिश होती कि वे भरसक निष्क्रिय रहें। इसलिए स्कूल के दिनों को खुशगवार बनाने का सवाल ही नहीं था। इस तरह लगातार पीछे धकियाए जाने के कारण हर हक बड़े इन्तज़ार के बाद हासिल होता था। हर उम्र, हर वर्ग का आकलन आज की बनिस्बत बड़ी अलग तरह से होता था। जिमनेज़ियम के 18 वर्षीय छात्र को अभी बच्चा ही समझा जाता था। यदि वह सिगरेट पीते पकड़ा जाए तो उसे दण्ड मिलता था। कक्षा से बाहर जाने की यदि तलब है तो हाथ उठाकर उसे अपनी आज्ञाकारिता दिखानी पड़ती थी। तीस वर्ष का आदमी भी अनुभवहीन गिना जाता था और चालीस वर्ष का आदमी बमुश्किल ज़िम्मेदारी उठाने वाला प्रौढ़। एक हैरतनाक अपवाद तब हुआ जब 38 वर्ष के गुस्तव मालर को इम्पीरियल ओपेरा का निदेशक बना दिया गया। पूरा वियना भौंचक फुसफुसाहटों से भर उठा कि... इस कदर नए-नवेले आदमी के हाथों ऐसी कलात्मक संस्था कैसे थमा दी (जबकि लोग भूल गए कि 31 वर्ष के श्यूबर्ट और 36 वर्ष के मोज़ार्ट तब तक अपना सर्वश्रेष्ठ दे चुके थे)।

* * *

युवाओं के प्रति यह शक कि वे बहुत एतबार लायक नहीं हैं उस दौर के हर समाज में व्याप्त था। मेरे पिता किसी युवक को अपने व्यवसाय में नहीं रखते थे। जो भी जवान दिखने को अभिशप्त था, वह इसी बदगुमानी का शिकार होता। आज कोई इस पर यकीन नहीं करेगा मगर हालत यह हो गई थी कि... उम्रदराज़ होना ही सबसे बड़ी काबिलीयत थी और जवान

होना गले की हड्डी। आज तो हालत यह है कि जो चालीस का है वह तीस का लगना चाहता है और जो साठ का है वह चालीस का। आज चुस्ती-फुर्ती और आत्मविश्वास को आदमी की उन्नति में सहायक माना जाता है, जबकि अमन-चैन के उस दौर में आगे बढ़ने की नीयत रखने वाले हर नौजवान को अपने से अधिक उम्र का दिखने के लिए क्या-क्या छल-कपट नहीं ओढ़ने पड़ते थे! अखबारों में इश्तिहार होते थे कि दाढ़ी कैसे जल्दी उगाएँ। 24-25 की उम्र में डॉक्टरी की पढ़ाई पास किए लड़के बड़ी-बड़ी दाढ़ी रखते, बगैर ज़रूरत आँखों पर सुनहरे चश्में चढ़ाए रखते ताकि अपने मरीज़ों पर यह रोब गालिब कर सकें कि उनके पास 'अनुभव' है। पुरुष लम्बा काला कोट पहनकर धीमे-से चलते और यथासम्भव मुटल्ला होने की कोशिश करते ताकि थोड़ी सौम्यता झलके...। स्कूल के सातवें-आठवें बरस में भी हम स्कूली बस्ता ले जाने से कतराते और ब्रीफकेस उठाना पसन्द करते ताकि कोई यह न जान सके कि हम जिमनेज़ियम में जाते हैं। ताज़गी, आत्मदृढ़ता, साहस, जिज्ञासा और युवकीय जीवन्तता, यानी वे सभी खूबियाँ जिन्हें आज रश्क के साथ देखा जाता है, बड़ी सन्देहास्पद मानी जाती थीं क्योंकि जिसमें 'सत्व' था वही काम की थी, बाकी नहीं।

* * *

इस तरह के असामान्य रवैये के मद्देनज़र समझा जा सकता है कि तंत्र अपनी ताकत बरकरार रखने के लिए स्कूलों को हथियार की तरह इस्तेमाल करता था। हमको सबसे पहले इस बात की शिक्षा लेनी होती थी कि हम मौजूदा व्यवस्था को आदर्श मानें, अध्यापकों के मत को अमोघ, पिता के वचनों को अखण्डनीय और सत्ता के नियम-कानूनों को असीम और शाश्वत। उन दिनों की शिक्षा का दूसरा बीज-सिद्धान्त जो परिवार पर भी लागू होता था, यह था कि बच्चों की ज़िन्दगी में मला-मलाया कुछ नहीं होना चाहिए। अधिकारों की इजाज़त उन्हें तब ही मिलती जब वे कर्तव्यों के प्रति अहसासज़दा हो जाते। बड़ों के प्रति पूर्णतः आज्ञापरायण होना तो उनका सबसे बड़ा फर्ज़ था। हमें शुरू से ही जता दिया जाता था कि हमने ज़िन्दगी में कुछ भी हासिल नहीं किया है और न हमें किसी चीज़ का

तज़ुर्बा है, इसलिए जो मिला है उसके लिए शुक्रगुज़ार होना चाहिए और जो नहीं मिला उसके लिए चूँ-चपड़ नहीं करनी चाहिए। बचपन की शुरुआत से ही डराने-धमकाने का यह अन्दाज़ चलन में था। तीन-चार साल का बच्चा अपनी शरारतों से बाज़ न आए तो उसकी नादान मम्मी या नौकर 'पुलिसवाले' को बुलाने की धमकी देकर डराते। जिमनेज़ियम के दौरान किसी वाहियात से विषय में थोड़े-से भी नम्बर कम रह जाएँ तो हमें स्कूल से उठाने और कारोबार सिखाने की धमकी दे दी जाती क्योंकि सर्वहारा वर्ग में वापसी को मध्यवर्ग की दुनिया में सबसे घटिया माना जाता था।

किसी समकालीन मुद्दे पर कोई बालक अपने बड़ों से कोई स्पष्टीकरण मांगता तो उसे "तुम अभी छोटे हो, तुम्हारी समझ में नहीं आएगा" कहकर झिड़क दिया जाता। घर, स्कूल और पूरे राज्य में इस तकनीक का इस्तेमाल होता था। नौजवानों को हरदम यही सुनने को मिलता कि वे अभी परिपक्व नहीं हैं, उन्हें अभी समझ नहीं है, बहस या विरोध करने की बजाय उन्हें अभी निष्ठापूर्वक सिर्फ सुनना चाहिए। यही वजह थी कि अपनी ऊँची डेस्क पर आसीन, पहुँच से परे के देवता अध्यापक का एक ही काम होता था - हमें अपने तयशुदा पाठ्यक्रम में उलझाए-खपाए रखना... इसका असली मकसद हमारी तरक्की नहीं, हमें फिसड्डी बनाना था, हमारी अन्दरूनी मज़बूती नहीं, हमें निर्दिष्ट तंत्र में बिना विरोध फिट बैठाना था, हमारा शक्तिवर्धन नहीं बल्कि हमारी शक्ति को एकसार करना था...।

* * *

मनोविश्लेषकों के आँकड़ों को देखें तो पता चल जाएगा कि अध्यापक के इस वाहियात तरीके ने कितनी तरह की 'हीनग्रन्थियों' को जन्म दिया है। यह कोई इत्तफाक नहीं है कि इन ग्रन्थियों की खोज उन्हीं लोगों ने की जो खुद इन ऑस्ट्रियाई स्कूलों में पढ़े थे। वैसे निजी तौर पर मैं इस दबाव का कृतज्ञ भी हूँ क्योंकि इसी की वजह से मेरे भीतर 'स्वतंत्र' रहने और हर सत्ता-शक्ति से नफरत करने का जज़्बा पनपा (और वह इस कदर प्रबल था कि आज का नौजवान शायद ही कभी उसे महसूस कर पाए)। हठधर्मिता और यथास्थितिवाद से मुझे ऐसी स्वभावगत चिढ़ है कि मैं बता नहीं सकता।

विश्वविद्यालय के बड़े-से सभागार में एक दफा मेरा भाषण था। बोलने के लिए जब मैं मंच पर आया तो मैंने देखा कि सारे श्रोता अच्छे स्कूली छात्रों की मानिन्द ऐसे नीचे बैठे थे जैसे बोलना या प्रतिरोध करना जानते ही न हों। मुझे बड़ी बेचैनी होने लगी। मेरी स्मृति में स्कूल के वे दिन कौंध आए जब इस तरह बैठकर मैं स्वयं गैर-बराबरी, नृशंसपन और मताग्रहों का शिकार होता था... मेरी साँस फूलने लगी कि कहीं मेरे भाषण का असर

वैसा ही ठण्डा तो नहीं होगा जैसा हमारे अध्यापकों के भाषणों का होता था। इस अड़चन के कारण मुझे वह भाषण अपने जीवन का सबसे घटिया भाषण लगा।

14-15 साल की उम्र तक स्कूल में वैसे हमें कोई खास तकलीफ नहीं थी। बड़े बेमन से हम अपने सबक याद करते और अध्यापकों पर फब्तियाँ कसते। लेकिन एक वक्त आया जब हम स्कूल से ऊबने-खीजने लगे। इस दौरान अद्भुत बात यह हुई कि दस वर्षीय बच्चों के हमारे जिस समूह ने आठ वर्ष के लिए जिमनेज़ियम में प्रवेश लिया था, उसने उसे चार वर्ष में ही लाँघ लिया। हमें शिद्दत से महसूस होने लगा कि हमारे सीखने के लिए स्कूल में कुछ भी नहीं रहा है। हमें लगता कि अपनी रुचि के विषय में हम अपने अध्यापकों से कहीं ज़्यादा जानते हैं क्योंकि उन्होंने तो अपने विद्यार्थी जीवन के बाद से निजी दिलचस्पी के तहत शायद ही कोई किताब खोली थी। लेकिन एक विरोधाभास दिन-ब-दिन खुलता जा रहा था। स्कूल की बेंचों पर, जहाँ हम बुतों की तरह बैठते थे, कुछ भी नया सुनने या सीखने को नहीं मिलता था। और उधर, कक्षा के बाहर, शहर थिएटर, म्यूज़ियम, किताबघर, विश्वविद्यालय और संगीत के रूप में हर रोज़ चौंकाने वाले हज़ारों आकर्षण दिखते थे। इसलिए हमारी ज्ञान पिपासा, हमारी बौद्धिक, कलागत और ऐन्द्रीय जिज्ञासा, जो स्कूल की चारदीवारी में भूखी-प्यासी रह जाती थी, स्कूल से बाहर जाने को बेताब रहती। अपने कलागत, साहित्यिक और संगीत के रुझान को शुरू में हममें से दो-तीन जनों ने ही महसूस किया। फिर हम दर्जन भर हो गए। और अन्त में तो अमूमन सभी बच्चे इसमें शरीक थे।

स्टीफन ज़्वाइग: ऑस्ट्रिया के उपन्यासकार तथा नाटककर (1881-1942)। वे जर्मन भाषा में लिखते थे। *वो गुज़रा ज़माना* (*द वर्ल्ड ऑफ येस्टरडे*) उनकी सबसे प्रसिद्ध पुस्तक है। *बीवेयर ऑफ पिटी* तथा *द रॉयल गेम* उनके जाने-माने उपन्यास हैं।

अँग्रेज़ी से अनुवाद और प्रस्तुतीकरण: ओमा शर्मा: एडीश्नल कमिश्नर, इंकम-टैक्स। हिन्दी के युवा लेखक हैं। आजकल मुम्बई में रहते हैं।